दोराहे पर है शिक्षा

पवन सिन्हा*

हमारी शिक्षा व्यवस्था में 'भारतीयता' का पुट होना अनिवार्य है, क्योंकि जिन बच्चों के लिए हम शिक्षा का उपक्रम कर रहे हैं, वे बच्चे भारतीय हैं, भारतीय परिवेश में रहते हैं, भारतीय समाज का अभिन्न हिस्सा हैं। हम यह जानते हैं कि कोई भी शिक्षा अपने समाज से जुड़ी हुई होती है। चिंतन का मुद्दा यह भी है कि भारत को समझने के लिए भारतीय दृष्टि का होना ज़रूरी है। विद्यालयी शिक्षा और शिक्षक शिक्षा में विदेशी तर्ज़ पर शिक्षण-अधिगम उपक्रमों को लागू करना उचित नहीं है, क्योंकि वे उपक्रम भारतीय समाज की जड़ों से जुड़े हुए नहीं हैं। भारतीय बच्चे को, उसके व्यक्तित्व को समझने के लिए भारतीय सिद्धांतों को भी समझना होगा। दरअसल जो जीवन का सत्य है, वही शिक्षा का भी सत्य है, क्योंकि शिक्षा जीवन के साथ ही जुड़ी हुई है। शिक्षा का उद्देश्य ही है जीवन को सार्थक और बेहतर तरीके से जीना। इस प्रकार इस लेख में शिक्षा से जुड़े भारतीयता के समस्त सरोकारों को समझाने का प्रयास किया गया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् हमारे देश में शिक्षा कि गुणवत्ता में सुधार हेतु अनेक प्रयास किए गए। उसी कड़ी में *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986* (1.9) के वाक्य, "मौजूदा हालात ने शिक्षा को एक दुराहे पर ला खड़ा किया है। अब न तो अब तक होते आये सामान्य विस्तार से और न ही सुधार के वर्तमान तौर-तरीकों या रफ़्तार से काम चल सकेगा।" को पढ़ा और गुना, मुझे यही समझ आया कि सच में शिक्षा आज भी दोराहे पर खड़ी है। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986* का यह कथन आज भी बेहद प्रासंगिक है...। स्थितियों से जूझने के लिए शिक्षा का जो ढाँचा सोचा गया, वह 'ढाँचा' तो आज भी मौजूद है, लेकिन उसकी 'आत्मा' कहीं खो-सी गई है। अगर मैं गहराई से पैने विश्लेषण के लेंस से चीज़ों को समझने की कोशिश करूँ तो यही समझ आता है कि आज भी वही समस्या सामने खड़ी है जो आज से लगभग 32 साल पहले खड़ी थी। हालाँकि शिक्षा के संदर्भ में अनेक सकारात्मक परिवर्तन भी आए हैं, लेकिन शिक्षा संबंधी व्यवस्था के जिन पहलुओं में मूलतः परिवर्तन को और अधिक पुख्ता किया जाना था, वह परिवर्तन अभी भी पुख्ता होने की प्रक्रिया में हैं। दरअसल बात यह है कि परिस्थितियाँ भी बदल गईं, चुनौतियाँ भी बदल गईं, 'तनाव और दबाब' भी बदल गए, लेकिन बदलते ज़माने की बदलती हवाओं के हिसाब से शिक्षा पूरी तरह से बदल नहीं पा रही। वह आज भी केवल '10+2+3 का ढाँचा' लिए खड़ी है। ऐसा

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, साउथ कैंपस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110 021

नहीं है कि शिक्षा के बारे में बहुत गंभीरता से सोचा ही नहीं गया। नीति-निर्माण के लिए परस्पर गहन विचार-विमर्श होता है, तब जाकर एक नीति अपने अंतिम रूप में आकार पाती है। भारत जैसे विविधता वाले देश में नीति बनाना इतना सरल भी नहीं है। विविधता के क्षेत्रों में भी विविधता है, यानी भाषा में विविधता, समाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में विविधता, भौगोलिक स्थितियों में विविधता — इतनी विविधताओं को एक नीति के माध्यम से सहेज पाना थोड़ा कठिन अवश्य है, लेकिन असंभव नहीं।

शिक्षा से जुड़ी नीति के निर्माण में गहन विचार-विमर्श से तब लाभ मिलता है जब एक 'समग्र दृष्टि' (Vision) भी विद्यमान होती है। यह 'समग्र दृष्टि' सामाजिक-सांस्कृतिक सहित अनेक परिप्रेक्ष्यों को समग्रता में देखने से विकसित होती है। अतः यह आवश्यक है कि भारत की शिक्षा-नीति का निर्धारण करते समय 'भारत' को उसकी समग्रता में देख-समझ लिया जाए। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें उस प्रस्थान बिंदु से आगे भी जाना है जहाँ आज हम खड़े हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान और भविष्य को एक साथ, समग्रता में देखने की ज़रूरत है। 'शिक्षा वर्तमान तथा भविष्य के निर्माण का अनुपम साधन है। इसी सिद्धांत को राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माण की धुरी माना जाता है' *(राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986:2.4)*। यह सिद्धांत कारगर तो है, लेकिन उस समाज में असफल-सा लगता है जहाँ चिंता इस बात की है कि 'हमार बिटवा इत्ता भर पढ़ लेई कि ऊकी नौकरिया लग जाई।' जहाँ शिक्षा को नौकरी से ही जोड़कर देखा जाता है और आगे आने वाली पीढ़ी की भी यही इच्छा रहती है कि हमारा बच्चा इतना पढ़-लिख जाए कि किसी तरह से 'सरकारी' नौकरी में लग जाए। इस समाज की शिक्षा से जुड़ी यह अवधारणा एक स्तर पर गलत भी नहीं लगती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य को सुरक्षित रखना चाहता है। इसमें आर्थिक सुरक्षा सबसे पहले है, आखिर 'दो वक्त की रोटी का सवाल' है। आर्थिक सुरक्षा के लिए एकमात्र उपाय 'नौकरी' इसलिए नज़र आता है, क्योंकि धीरे-धीरे खेत-खलिहान, अपने पैतृक व्यवसाय और श्रम-प्रधान कार्य समाप्त होते जा रहे हैं। ऐसा हो सकता है कि यह स्थिति कहीं कम हो और कहीं ज़्यादा। लेकिन इतना तय है कि यह स्थिति अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। इस सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि अब धीरे-धीरे 'नौकरियाँ' कम होती जा रही हैं। इनसानों की जगह मशीनें लेने लगी हैं, वह भी एक की जगह नहीं, बल्कि एक साथ कई लोगों की जगह लेती जा रही हैं। यह दुखद स्थिति है कि कागज़ पर शिक्षा न जाने 'किस-किस का माध्यम है', न जाने 'क्या-क्या कर सकती/करती है' लेकिन ज़िंदगी की किताब में उसकी कीमत बस 'नौकरी' तक ही सिमट कर रह गई है।

फ़रवरी, 1835 में मैकॉले ने भारतीयों के लिए जो शिक्षा का ढाँचा चुना या बुना हम उसके जाल में आज भी कैद हैं। उसने हमारी भारतीय भाषाओं, हमारे भारतीय ज्ञान, परंपराओं को हीन बताकर अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य को श्रेष्ठ बताया...शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेज़ी ही रखा...और हमें यह मानना पड़ा। मैकॉले ने शिक्षा को अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी के 'मुलाज़िम' तैयार करने का माध्यम बनाया। वह वास्तव में एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहता था जो अपनी रुचि, आचार-विचार और बुद्धि से अंग्रेज़ हो ताकि ईस्ट इंडिया कंपनी को क्लर्क मिल सकें।

मैकॉले ने अपने समाज और समय की ज़रूरत को ध्यान में रखकर ऐसी नीति बनाई थी। उस समय हम स्वतंत्र नहीं थे, मैकॉले के विरुद्ध आवाज़ उठाते तो संभवतः सुनी भी नहीं जाती। कुल मिलाकर स्थितियाँ प्रतिकूल थीं। लेकिन आज तो हम स्वतंत्र हैं। आज तो हम गलत बातों का विरोध कर ही सकते हैं, अपनी आवाज़ ऊँची कर सकते हैं। लेकिन गहराई से देखा-समझा जाए तो लगता है कि हम तो 'चुप' हैं और चुपचाप मैकॉले की तर्ज़ पर चले जा रहे हैं। शिक्षा को लेकर आज भी माहौल कुछ ऐसा ही है जो शिक्षा को महज़ नौकरी पाने के माध्यम के रूप में देखता है। यह भी लगता है कि 'खामोशी की संस्कृति' आज भी मौजूद है। हमने प्रायः अपनी ही भाषाओं में लिखे साहित्य को पढ़ना छोड़ दिया, क्योंकि भारतीय भाषाओं में लिखे साहित्य को पढ़ने वाले तथा उसमें लिखे हुए को स्वीकार करने वाले व्यक्ति आज की दुनिया में 'बहुत कम हैं जबकि अंग्रेज़ी में 'किताब' पढ़ने वाला, अंग्रेज़ी बोलने वाले व्यक्ति बहुत अधिक हैं। अंग्रेज़ी का वर्चस्व तब भी था और अंग्रेज़ी का वर्चस्व आज भी है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि भाषा सीखने-बोलने के रूप में अंग्रेज़ी से कोई बैर नहीं है, समस्या अंग्रेज़ी मानसिकता से है। आज भी हमने अंग्रेज़ी को भारतीय भाषाओं से उच्च स्थान दिया है। यही कारण है कि आज 'शिक्षा का अधिकार भी बहुत चतुराई से मातृभाषा को माध्यम बनाते-बनाते यह कह गया—'शिक्षा का माध्यम, जहाँ तक साध्य हो बालक की मातृभाषा में होगा'। जबकि हम यह स्वीकार करते हैं कि जीवन-जगत को लेकर बच्चे की तमाम अवधारणाएँ बच्चे की मातृभाषा में बनती हैं। वह उसी भाषा में सहज महसूस करता है और उसी भाषा में सहज अभिव्यक्ति करता है।

अंग्रेज़ी भाषा, देश के हर बच्चे के परिवेश में समृद्ध रूप से मौजूद नहीं है और अगर अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए प्रावधान किया जाता है तो वह बच्चे के मस्तिष्क पर बोझ ही डालेगी, उससे कुछ भी हासिल होने वाला नहीं है। कई विश्वविद्यालय ऐसे हैं जहाँ कुछ पाठ्यक्रमों का अध्ययन केवल अंग्रेज़ी भाषा में ही होता है। वहाँ हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। भारत का संविधान भी मातृभाषा में शिक्षा (प्राथमिक स्तर पर) उपलब्ध कराने का समर्थन करता है—'प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निर्देश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है'। [अनुच्छेद 350 क संविधान अधिनियम (सातवाँ संशोधन), 1956 की धारा 21 द्वारा अंतः स्थापित]। लेकिन मुद्दा यह है कि भारत का संविधान केवल भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कराने की बात करता है। क्या वास्तव में यह ज़रूरत सिर्फ़ और सिर्फ़ अल्पसंख्यकों की है, हर बच्चे की नहीं? और अगर है तो फिर यह भेदभाव क्यों? इतना ही नहीं, 1968 की शिक्षा नीति प्राथमिक स्तर पर पढ़ने-पढ़ाने का माध्यम मातृभाषा को ही स्वीकार करती है जिसे

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 ने ज्यों-का-त्यों मान लिया था, लेकिन वास्तविकता यह है कि अंग्रेज़ी भाषा को ही माध्यम बनाने पर ज़ोर दिया जा रहा है। यह ज़ोर या दबाव अभिभावकों की ओर से अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि उनका मानना है कि अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान और अंग्रेज़ी भाषा में व्यवहार 'नौकरी' दिलाता है। इस तरह से अंग्रेज़ी भाषा रोज़गार की भाषा के रूप में उपस्थित है। लेकिन बच्चे की अवधारणाओं की भाषा, समझ की भाषा और अभिव्यक्ति की भाषा तो उसकी मातृभाषा है। इस संदर्भ में भी विचार किया जाना अपेक्षित है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण के लिए 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' के अंतर्गत 'भाषा संगम-भाषिक विविधता का उत्सव' नामक कार्यक्रम वर्ष 2017 से प्रारंभ किया गया है। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है — विद्यालयों और संस्थानों को भारतीय भाषाओं में बहुभाषिकता से परिचित कराना। यह कार्यक्रम भारत की भाषिक विविधता को संबोधित करने, संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारतीय भाषाओं से बच्चों का परिचय कराने, भारतीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देने, भाषिक सहिष्णुता और सम्मान को बढ़ावा देने के लिए प्रारंभ किया गया है। यह कार्यक्रम एक ओर भाषिक विविधताओं को सकारात्मक रूप में संबोधित करता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देता है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत जो गतिविधियाँ सुझाई गई हैं, वे प्रतिदिन बच्चों को अलग-अलग भाषाओं के शब्द, वाक्य और परस्पर वार्तालाप के असवर देती हैं। निस्संदेह यह प्रयास प्रशंसनीय है। इसके साथ ही बच्चों की मातृभाषाओं को कक्षा, विद्यालय और अध्ययन-अध्यापन में पर्याप्त स्थान देने की आवश्यकता है। यह संभव है कि बच्चे की भाषा संविधान की आठवीं अनुसूची में न हो, लेकिन उसकी मातृभाषा सम्माननीय है। उसकी मातृभाषा में उसके विचार बनते हैं, विचारों की अभिव्यक्ति सहजता के साथ होती है तो इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

भारतीय शिक्षा भारतीय समाज और भारतीय संस्कृति के ताने-बाने से बुनी हुई होनी चाहिए। यही कारण है कि *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005* (पृ. 36–37) स्पष्ट रूप से यह कहती है कि 'इसलिए स्थानीय चीज़ें एक स्वाभाविक अधिगम स्रोत हैं जिन्हें कक्षा कार्य संपादन के निर्णय लेते समय प्रधानता देनी चाहिए।... स्थानीय परिवेश केवल भौतिक-प्राकृतिक नहीं होता, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक भी होता है। हर बच्चे की घर में अपनी आवाज़ होती है। स्कूल के लिए यह आवश्यक है कि कक्षा में भी यह आवाज़ सुनी जाए। समुदायों का सांस्कृतिक स्रोत प्रचुर होता है, लोककथाएँ, लोकगीत, चुटकुले, कलाएँ आदि स्कूल में भाषा और ज्ञान को समृद्ध बना सकते हैं। इससे मौखिक इतिहास भी समृद्ध होगा। लेकिन हम कक्षा में चुप्पी को लादकर बच्चों को दबाते हैं। यह ज़रूरी है कि सामाजिक-सांस्कृतिक संसार के अनुभवों को भी पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाए'। इस उद्धरण से दो बातों को स्पष्ट संकेत मिलता है। एक, बच्चे का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश महत्वपूर्ण है और उसे कक्षा में उचित स्थान मिलना चाहिए। दूसरा, बच्चे के स्थानीय परिवेश के अनुसार ही कक्षा की क्रियाओं का संपादन होना चाहिए। बात चाहे विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्री की हो या ज्ञान के सृजन की — बच्चों के साथ संवाद आवश्यक है। शिक्षा के क्षेत्र में इस

'संवाद' पद्धति को काफ़ी समय से निरंतर बल मिल रहा है और यह कहने की, समझाने की कोशिश की जा रही है कि बच्चों को पढ़ाने के लिए संवाद पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन वास्तविकता यह है कि हमारी तो पूरी भारतीय परंपरा में यही संवाद शामिल है — गुरु और शिष्य के मध्य। उपनिषद् का अर्थ ही है — समीप बैठकर सीखना। यहाँ 'गुरु' और 'शिष्य' को 'श्रेष्ठ-हीन' या 'श्रेष्ठ-कमतर' न समझा जाए। दोनों ज्ञानार्जन में सहभागी हैं। दोनों के बीच प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया प्रारंभ होती है और इस पूरी प्रक्रिया में 'गुरु' कहीं भी, कभी भी न तो अपेक्षा करता है और न ही इस बात के लिए दबाव डालता है कि उसकी बात ही अंतिम सत्य है या उसकी बात को ही सर्वोपरि माना जाए। शिष्य का सवाल करना और गुरु का उत्तर देना — भारतीय परंपरा की इस संवाद शैली में प्रश्न पूछने और उत्तर देने का क्रम लगातार बदलता रहता है। 'गुरु और शिष्य' — दोनों ही प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता की भूमिका में आते रहते हैं। विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्री भी इसी प्रक्रिया को अपनाता है। 'कक्षा में शिक्षक और शिक्षार्थी की अंतःक्रिया विवेचनात्मक होती है, क्योंकि उसमें यह परिभाषित करने की ताकत होती है कि किसका ज्ञान स्कूल-संबंधी ज्ञान का हिस्सा बनेगा और किसकी आवाज़ उसे आकार देगी।...अतः बच्चों में यह चेतना होनी चाहिए कि उनके अनुभव और अनुभूतियाँ भी महत्वपूर्ण हैं। उन्हें अपनी मानसिक योग्यता को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि वे स्वतंत्र रूप से तर्क व विचार कर सकें और असहमत होने का साहस रखें'। (*राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005*: 26) समस्त उपनिषदीय पद्धति में इसी चेतना, तर्क, विवेचना, सहमति, असहमति, अनुभव और अनुभूतियों पर बल दिया जाता है।

लेकिन मूल समस्या यह है कि हमने न तो अपने प्राचीन साहित्य को पढ़ा है और न ही उन्हें सही से जानने का प्रयास किया है। शिक्षा के क्षेत्र में बच्चों के संदर्भ में जिस 'खोज', 'अन्वेषण' की बात की जाती है, उससे हम 'बड़े' कई बार चूक जाते हैं। कई बार यह आभास होने लगता है कि हम संभवतः उन चीज़ों को ज़्यादा महत्व दे बैठते हैं जो चीज़ें हमें दूसरों से, दूसरे परिप्रेक्ष्य में, दूसरे परिवेश में मिलती हैं। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के मॉडल के संदर्भ में अकसर फ़िनलैंड की शिक्षा व्यवस्था की बात होती है। फ़िनलैंड में बच्चा सात साल की उम्र में औपचारिक शिक्षा के लिए स्कूल जाता है। लेकिन यह हमें तय करना है कि हमारे बच्चे किस उम्र से औपचारिक शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा बनेंगे। यह ठीक है कि जहाँ से जो ठीक लगे उसे अपनाना चाहिए, लेकिन यह भी देख लेना चाहिए कि 'जहाँ' से हम 'जो' ले रहे हैं वह हमारी अपनी परिस्थितियों से मेल खाता है या नहीं। क्या उसका और हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश एक जैसा है? क्या उसकी और हमारी शिक्षा संबंधी ज़रूरतें एक जैसी हैं? प्रयास यह होना चाहिए कि हम अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी शिक्षा का मॉडल स्वयं निर्मित करें। भारत जैसे विविधता वाले देश में शिक्षा का कोई एक मॉडल भी कारगर नहीं होगा, क्योंकि हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश, भूगोल, भाषा, आर्थिक स्थिति और 'बचपन' एक जैसा नहीं है। अपने समाज और उस समाज के बच्चों की शैक्षिक आवश्यकता के अनुरूप ही शिक्षा के मॉडल निर्मित किए जाने चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968 एवं *1986* का गहन विश्लेषण इस ओर संकेत करता है कि दोनों नीतियाँ शिक्षा को बेहतर रूप में परिभाषित करती हैं, लेकिन दोनों में से कोई भी नीति स्पष्ट और ठोस रूप से यह बताने में असफल है कि बच्चे से क्या अपेक्षित है? शाला से क्या अपेक्षित है? दोनों ही नीतियाँ राष्ट्र की बात करती हैं, राष्ट्रीय निर्माण, राष्ट्रीय प्रगति, राष्ट्रीय अखंडता, विज्ञान और तकनीक की बात करती हैं। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986* (1992 के संशोधनों सहित) के नीतिगत दस्तावेज़ में एक जगह यह कहा गया है कि, "हमारे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में 'सबके लिए शिक्षा' हमारे भौतिक और आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है"। (1986: 2.1) लेकिन यह नीति कहीं भी इस बात का स्पष्टीकरण नहीं देती कि वह जब 'भौतिक' और 'आध्यात्मिक' विकास का उल्लेख करती है तो उसका क्या अर्थ है? सीधे-सीधे शब्दों में कहें तो नीति यह बताने में, यह समझाने में असफल है कि भौतिक विकास क्या है? और आध्यात्मिक विकास क्या है? एक बार को भौतिक विकास तो समझ आ सकता है कि जीवन जीने के लिए, राष्ट्र-निर्माण के लिए जो तकनीकी विकास चाहिए, उसमें शिक्षा मदद करे। लेकिन 'आध्यात्मिक विकास' का कोई स्पष्टीकरण नहीं है और यही 'सबसे गंभीर खतरा' लिए हुए है। दरअसल चीज़ों को लेकर हमारी जिस तरह की अवधारणा, सोच-समझ होती है, वह हमारी समस्त क्रियाओं, कार्यों को प्रभावित करती है। मेरा अनुभव बताता है कि 'आध्यात्मिक विकास' को अकसर गलत और संकीर्ण दृष्टि से देखा गया है। आज भी आध्यात्मिकता को केवल एक 'पंथ विशेष' से और पूजा-पाठ विशेष (और न जाने कितने 'कर्मकांडों') से जोड़कर देखा जाता है। यही कारण है कि वह हम सबके जीवन का हिस्सा नहीं बन पाया है, पर मेरे विचार में आध्यात्मिकता 'विशुद्ध कर्म' से जुड़ी है, कर्मकांडों से नहीं। और कर्म भी ऐसा कि जिसमें कल्याण की भावना निहित है, जिसमें चिंतन है, मनन है और सक्रियता है। संस्कृत शब्दकोश(1997: 28) के अनुसार 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ है—आत्मा या व्यक्ति से संबंध रखने वाला। 'अध्यात्म' शब्द का संधि-विच्छेद है— अधि+आत्म। 'आत्म' का अर्थ है— स्वयं, आत्म और 'अधि' (उपसर्ग के रूप में) का अर्थ है— ऊर्ध्व, ऊपर। इस रूप में 'अध्यात्म' का मुख्य अर्थ है— वह पथ जो आत्मा का उन्नयन करता है, व्यक्ति का उन्नयन करता है। यह हमारा दायित्व है कि हम नीतिगत बातों के मूल भाव को ठीक से समझते हुए बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्रदान करें।

शिक्षा का संबंध समाज से है। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा के लक्ष्य, उद्देश्य और स्वरूप निर्धारित होते हैं। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968* नैतिक और सामाजिक मूल्यों को पैदा करने की बात करती है। साथ ही वह कहती है कि शिक्षा व्यवस्था को ऐसे स्त्री-पुरुष उत्पादित करने चाहिए जिनका चरित्र दृढ़ हो और जो राष्ट्रीय सेवा एवं विकास के प्रति निष्ठावान हों। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986* भी आगे आने वाली पीढ़ियों से यह अपेक्षा करती है कि वे नए विचारों को सतत और सृजनात्मक रूप से आत्मसात कर सकें। यह नीति मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय की भी बात करती है। इन अनुशंसाओं का निहितार्थ यही है कि शिक्षा के माध्यम से एक श्रेष्ठ नागरिक और श्रेष्ठ नागरिकों के सहयोग से श्रेष्ठ भारत का निर्माण

हो सके। यह बिंदु प्रशंसनीय भी है और विचारणीय भी कि क्या 'आध्यात्मिक विकास' और 'मूल्य और नैतिकता' दो अलग बातें हैं, संभवतः नहीं। ये एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। आध्यात्मिकता में नैतिकता और मूल्य अंतर्निहित हैं। एक और विचारणीय बिंदु यह है कि 1968 में जिन मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय का लक्ष्य रखा गया था, वह आज भी अपेक्षित है। स्थितियाँ आज भी कमोबेश उसी तरह की हैं। आज समाज का जो रूप हम सभी के सामने है, वह इस ओर संकेत करता है कि मूल्यों और नैतिकता को अभी भी बल देने की ज़रूरत है। इसके लिए ज़रूरी है कि शिक्षक और माता-पिता स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत करें ताकि बच्चे स्वतः ही अपने व्यवहार को परिमार्जित कर लें। शिक्षा के बारे में जितना अनुभवों ने सिखाया है उसके आधार पर यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि मूल्यों और नैतिक विकास के संदर्भ में अनौपचारिक शिक्षा बेहतर परिणाम देती है। इसका कारण यह है कि मूल्यों का शिक्षण नहीं हो सकता। उसके लिए कोई पाठ्यक्रम, कोई पाठ्यपुस्तक इतनी कारगर नहीं होती जितना कारगर प्रदर्शन होता है, स्व-उदाहरण होता है। बच्चे अवलोकन के माध्यम से भी मूल्यों को ग्रहण करते हैं। अतः बच्चों के संपर्क में रहने वालों (माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी आदि) को स्वयं अपने व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाना होगा, तभी बच्चे भी उस व्यवहार को तर्क की कसौटी पर कसते हुए उसे अपने जीवन में अपना सकेंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में एक प्रयास सराहनीय है और वह है—'समान विद्यालय पद्धति' (कॉमन स्कूल सिस्टम)। समान विद्यालय पद्धति से विभाजित समाज की विषमता कम की जा सकती थी और सभी बच्चे समान रूप से समान पाठ्यक्रम पढ़ते। लेकिन इतने वर्षों बाद भी 'समान विद्यालय पद्धति' का वह स्वप्न पूरा नहीं हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी समाज दो भागों में बँट गया—सरकारी स्कूल और निजी स्कूल। यदि आप स्वयं भी दोनों तरह के विद्यालयों का अवलोकन करें तो आप दोनों तरह के विद्यालयों में अंतर को पहचान पाएँगे। विद्यालय की आधारभूत संरचना, बच्चों का सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य, बच्चों का 'बचपन', बच्चों की महत्वाकांक्षाएँ, अभिभावकों की शैक्षिक पृष्ठभूमि और व्यवसाय आदि सभी में अंतर देखा जा सकता है। इन सभी के साथ एक और महत्वपूर्ण बिंदु है — बच्चों और अभिभावकों का संघर्ष। हालाँकि 'समग्र शिक्षा अभियान' (पूर्व में सर्व शिक्षा अभियान, माध्यमिक शिक्षा अभियान) के तहत विद्यालयों में मूलभूत संसाधनों को मुहैया कराने के सफल प्रयास किए गए हैं, लेकिन परिणाम अभी और बेहतर होने की गुंजाइश है। बच्चों की वर्दी, जूते, बस्ता, कॉपियाँ, पाठ्यपुस्तकें और अलग-अलग प्रकार की छात्रवृत्तियाँ भी उपलब्ध कराई जाती हैं, विद्यालयों में शौचालयों, पीने के पानी की भी दुरुस्त व्यवस्था की गई है, लेकिन अभी और प्रयास करने की आवश्यकता है, क्योंकि गुणवत्ता हर बच्चे का मौलिक अधिकार है।

विद्यालयी शिक्षा से आगे बढ़ते हुए अब उनकी बात भी कर लेते हैं जिन पर विद्यालयी शिक्षा की एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है, वे हैं शिक्षक! "किसी समाज में अध्यापकों के दर्जे से उसकी सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टि का पता लगता है। कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर

से ऊपर नहीं उठ सकता। सरकार और समाज को ऐसी परिस्थितियाँ बनानी चाहिए जिनसे अध्यापकों को निर्माण और सृजन की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिले।" *(राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986: 9.1)*। यह बात अक्षरस: सही है। शिक्षकों का दर्जा ऊँचा उठाना ही चाहिए। आखिर एक बच्चे के जीवन का सवाल नहीं है, बल्कि कई बच्चों के जीवन का सवाल नहीं है, कई पीढ़ियों के जीवन का सवाल है...अंततः पूरे राष्ट्र का और राष्ट्र के जीवन का सवाल है।

शिक्षक समाज में भी वैविध्य है। कुछ शिक्षक एकदम अपने काम में लगे रहते हैं। वे और उनकी कक्षा के बच्चे, बस! उनकी दुनिया में इतने ही कम लोग हैं। वे पढ़ाने के लिए 'किसी तरह के सरकारी आदेशों की प्रतीक्षा' भी नहीं करते हैं। बस, जुटे रहते हैं। ऐसे शिक्षक अपनी समस्याओं का हल भी स्वयं ही खोज लेते हैं।

कुछ शिक्षक ऐसे भी होते हैं जो बेहतर करना तो चाहते हैं, लेकिन उनकी इच्छाशक्ति, उनका मनोबल इतना कमज़ोर होता है कि वे जटिल या विपरीत परिस्थितियों के सामने बहुत जल्दी ही घुटने टेक देते हैं। लेकिन अगर इन्हें समुचित सहयोग और मार्गदर्शन मिले तो इनमें सकारात्मक परिवर्तन आता है और ये बेहतर कार्य कर सकते हैं। एक और तरह के शिक्षक होते हैं जो पढ़ाने के अतिरिक्त सभी कार्य कर लेते हैं। इस अंतिम तरह के शिक्षकों की उपस्थिति इस ओर संकेत करती है कि शिक्षक प्रशिक्षण और उनसे संबद्ध संस्थाओं की गुणवत्ता पर निरंतर ध्यान देने की आवश्यकता है। साथ ही इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि अंततः हम शिक्षक से क्या अपेक्षाएँ कर रहे हैं? शिक्षकों को किस तरह की बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई हैं? शिक्षकों को बेहतर कार्य करने के लिए किस तरह का प्रेरणादायक परिवेश उपलब्ध कराया गया है? क्या हम शिक्षकों के सहयोग में निरंतर खड़े हैं अथवा नहीं? यहाँ 'हम' से आशय शिक्षा व्यवस्था है। अनेक शिक्षक ऐसे भी हैं जो अत्यंत जटिल स्थितियों में अध्यापन का कार्य करते हैं, जैसे—आदिवासी क्षेत्रों में कार्य करना, दुर्गम स्थानों पर कार्य करना, पहाड़ी क्षेत्रों में कार्य करना आदि। ऐसे शिक्षकों को विशेष प्रावधानों की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि अब जिस तरह के 'शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थान' धड़ाधड़ खुल रहे हैं, उनमें गुणवत्ता का सवाल हमेशा खड़ा रहता है। मेरे विचार से शिक्षक बनना बहुत जटिल कार्य है। इसके लिए बहुत निष्ठा, लगाव की ज़रूरत होती है। ऐसा नहीं है कि अगर किसी को किसी पाठ्यक्रम में दाखिला न मिले तो वह इस शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम में दाखिला ले ले। दरअसल, शिक्षक-प्रशिक्षण का काम बहुत कठोर परिश्रम की माँग करता है। इसमें सबसे बड़ी चुनौती बच्चों को ठीक से समझने की कुशलता और ज्ञान की है। बच्चों को विषय पढ़ाने से भी अधिक आवश्यक है — बच्चों को समझना, बच्चों के संपूर्ण व्यक्तित्व को समझना, बच्चों के संदर्भ को समझना। यहाँ संदर्भ से आशय बच्चों के सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से है। हम यह जानते हैं कि किसी भी व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण की एक महत्ती भूमिका होती है। प्रकृति और परवरिश, दोनों का गुणात्मक प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व को आकार देता है। अतः यह आवश्यक है कि बच्चे को ठीक से समझा जाए और उसके अनुसार उचित व्यवहार किया जाए। इसके लिए शिक्षक-शिक्षार्थी

की तत्परता और अभिवृत्ति, दोनों का सकारात्मक होना अनिवार्य है। शिक्षकों को शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम के अंतर्गत ऐसे अवसर और परिवेश उपलब्ध कराया जाए जिससे वे विद्यालयी व्यवस्था और उससे जुड़े समस्त पहलुओं, कक्षाई प्रक्रियाओं का सूक्ष्म अवलोकन कर सकें, उसके संबंध में अपने लिए आवश्यक निहितार्थों को समझ सकें। शिक्षक-शिक्षार्थी जितना समय इस 'शिक्षाई और विद्यालयी समझ' को समझने में लगाते हैं, उतना ही वे प्रभावी शिक्षक सिद्ध हो सकेंगे। अतः आवश्यक है कि शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम को करने वाले शिक्षक-शिक्षार्थी स्वयं गंभीर हों और उनका प्रवेश भी गंभीरता से किया जाना चाहिए। इन्हीं शिक्षकों पर पूरी विद्यालयी शिक्षा का कार्य निर्भर करता है।

प्रभावी शिक्षकों के संदर्भ में उनकी स्वायतत्ता एक अहम मुद्दा है। 'अध्यापकों को इस बात की आज़ादी होनी चाहिए कि वे नए प्रयोग कर सकें और संप्रेषण की उपयुक्त विधियाँ और अपने समुदाय की समस्याओं और क्षमताओं के अनुरूप नए उपाय निकाल सकें। *राष्ट्रीय शिक्षा नीति* (1986: 9.1) का यह सुचिंतित विचार दो तरह की चुनौतियों को स्वयं में निहित किए हुए है। एक, शिक्षकों की आज़ादी और दूसरा, स्वयं के सुनियोजित तरीके। ये चुनौतियाँ एक तरह से शिक्षकों की ताकत भी हैं। दरअसल, शिक्षक ही वह व्यक्ति है जिसे बच्चों की समस्त खूबियों और खामियों का ज्ञान होता है। शिक्षक ही हैं जो बच्चों को बिना अहसास दिलाए उनके पूरे व्यक्तित्व का निरंतर अवलोकन करते हैं ताकि वे समय और ज़रूरत के अनुसार सहयोग प्रदान कर सकें। शिक्षकों को यह आज़ादी मिलनी ही चाहिए और शिक्षकों को इस आज़ादी का उपयोग करना ही चाहिए ताकि वे बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण में योगदान दे सकें। यह आज़ादी हर तरह से बच्चे को ही केंद्र में रखती है। इस आज़ादी का दूसरा पहलू यह भी है कि शिक्षक बच्चों की ज़रूरतों के अनुसार उनके लिए उचित शिक्षाशास्त्रीय निर्णय ले सकें। हम सभी जानते हैं कि बच्चों में व्यक्तिगत भिन्नता होती है और कोई एक तरीका या रणनीति कक्षा के सभी बच्चों के लिए समान रूप से कारगर नहीं होती। अतः यह ज़रूरी है कि शिक्षक अपने बच्चों को उनके समस्त परिप्रेक्ष्यों में रखते हुए आवश्यकतानुसार उचित शिक्षाशास्त्रीय पद्धति अपना सकें। इस तरह शिक्षक ही वह धुरी बन जाता है जिसके निर्णय और प्रज्ञा, बच्चों के विकास को प्रभावित करते हैं। देश भर के शिक्षकों को नए प्रयोग करने और उनके अनुरूप अपनी-अपनी कक्षाई प्रक्रियाओं को निर्धारित करने की आज़ादी देने के प्रावधान पर बल दिया जाना चाहिए। इससे शिक्षकों की गुणवत्ता का संवर्धन होगा।

शिक्षकों की गुणवत्ता के संदर्भ में यह समझना ज़रूरी है कि उन्हें शिक्षा की सही-सही समझ और वे बच्चे जो शिक्षा के अधिकार के हकदार हैं, उनके मन को समझना ज़रूरी है। विषय पर अधिकार, बच्चों के मन को समझना, देश-दुनिया की अद्यतन जानकारी और बच्चों में पैनी तार्किक शक्ति एवं गहन अवलोकन क्षमता का विकास, स्वयं में आत्मविश्वास, ये सब एक शिक्षक के लिए ज़रूरी है। लेकिन ऐसे शिक्षकों की संख्या कम ही है। अनेक शिक्षक ऐसे हैं जिन्हें इस बात की जल्दी रहती है कि किसी तरह पाठ्यक्रम पूरा हो जाए और जो अभी शिक्षक बनने की 'कतार' में हैं, उन्हें इस बात की

जल्दी है कि बस किसी तरह 'बिना शिक्षा-संस्थान जाए और बिना प्रशिक्षण के ही' उनके शिक्षक होने का प्रमाण-पत्र मिल जाए। ऐसा नहीं है कि यह 'बेसब्री' केवल भावी शिक्षकों में ही है, बल्कि बहुत-से शिक्षक शिक्षा संस्थानों में भी है... इनमें निजी संस्थानों का स्थान सर्वोपरि है...। यही कारण है कि शिक्षक बच्चों के व्यक्तित्व पर अपनी कोई भी छाप नहीं छोड़ पाते। उनके व्यक्तित्व में ऐसी कोई 'विशिष्टता' नहीं होती कि बच्चे उनसे प्रभावित हो सकें। दूसरों को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्व की जो आभा होती है, वह आज के शिक्षक के पास नहीं है और न ही उनके 'शिक्षक' के पास...। और जब यह प्रभावशीलता ही नहीं है तो बच्चे किसे अपना मॉडल बनाएँगे?

विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले विषय और उनकी अवधि से भी एक खास तरह की असंतुष्टि-सी रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि अनेक शिक्षक अपने विषय से 'बाहर' जाकर सोच ही नहीं पाते। यदि किसी शिक्षक से बच्चे की शिक्षा के बारे में पूछिए या फिर यह पूछिए कि बच्चा कैसा है तो शिक्षक विषयानुसार बच्चे के निष्पादन के बारे में बताना शुरू कर देता है—'सोनम गणित में तो अच्छी है लेकिन न जाने उसे हिंदी में क्या हो जाता है? अगर वह थोड़ी मेहनत विज्ञान में भी कर ले तो उसकी अच्छी 'परसेंटेज' बन जाएगी। राहुल का गणित बहुत ही कमज़ोर है और इतिहास में उसे तारीखें याद नहीं रह पातीं। अंग्रेज़ी में रट-रटाकर नंबर तो ले आता है लेकिन समझ नहीं है'...आदि। अभिभावक भी तो शिक्षक से यही जानने को उत्सुक रहते हैं — 'सोनम के कितने नंबर आए हैं? राहुल के कितने परसेंट मार्क्स आए हैं?' आदि। लेकिन न तो अभिभावकों की और न ही शिक्षकों की इस बात में रुचि होती है कि 'सोनम दूसरे बच्चों के साथ मिल-जुलकर रहती है क्या? राहुल को खाली समय में क्या करना सबसे अच्छा लगता है?' आदि। हमने बच्चों की शिक्षा को केवल विषय की पढ़ाई-लिखाई का पर्याय बना दिया है। असंतुष्टि का कारण यही है कि जो शिक्षा विषय-आधारित हो, वह जीवन-आधारित कैसे हो सकती है। शिक्षा जीवन से जुड़ी है और शिक्षा अपनी अंतर्निहित क्षमताओं को विकसित करने का माध्यम है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) एक शैक्षिक निकाय है जो विद्यालयी शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या का निर्माण करने के लिए अधिकृत है। 1964–66 के राष्ट्रीय शिक्षा आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार एन.सी.ई.आर.टी. ने 1975 में दसवर्षीय स्कूली पाठ्यचर्या बनाई। उसकी प्रस्तावना में शिक्षा और राष्ट्रीय विकास को जोड़ा गया—"शिक्षा आयोग (1964–66) ने राष्ट्रीय विकास को शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्षों में से एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में रेखांकित किया है और वस्तुतः इसे विशाल स्तर पर 'शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन' का एकमात्र माध्यम स्वीकार किया है।" लेकिन शिक्षा की इस ताकत को व्यापक रूप से अथवा बड़े पैमाने पर ज़मीनी स्तर पर साकार रूप देने के लिए ज़रूरी है कि नीति बनाते समय उसके क्रियान्वयन पर और भी ज़्यादा समय, ऊर्जा और बल दिया जाए। क्या कारण रहा कि हम शिक्षा को 'शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन' का एकमात्र माध्यम स्वीकार करने के बावजूद बड़े स्तर पर समाज में कोई सकारात्मकता नहीं देख पा रहे हैं। इसका एक

कारण संभवतः यह हो सकता है कि हमने शिक्षा को विद्यालय की चहारदीवारी में बंद कर दिया और 'जीवन-जीवन' का नारा लगाते रहे। कथनी और करनी में कोई तालमेल तो होना ही चाहिए। शिक्षा से जुड़ी इतनी महत्वपूर्ण बात को हमें स्वयं अपने जीवन में और बच्चों के जीवन में उतारने के लिए कुछ ठोस कदम उठाने होंगे।

यह सही बात है कि किसी भी देश का विद्यालयी पाठ्यक्रम उसके संविधान की भाँति उसकी आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है (दसवर्षीय स्कूली पाठ्यक्रम की रूपरेखा—1975)। हम जिस तरह का समाज देखना चाहते हैं, हम जिस तरह का मानव देखना चाहते हैं, उसी तरह से शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। देश की हर शिक्षा नीति और हर आयोग ने यही किया है। देश को ज़रूरत महसूस हुई तकनीकी विकास की तो उस समय की शिक्षा नीति ने तकनीकी विकास और विज्ञान पर बल दिया। इसी तरह जब समानता हमारा मुख्य उद्देश्य रहा तो हमने समान स्कूल शिक्षा प्रणाली की बात की। यह इसी ओर संकेत करता है कि हम जैसा देखना चाहते हैं, वैसा अपनी शिक्षा व्यवस्था में ढालते जाते हैं। यह इस ओर भी संकेत करता है कि शिक्षा किसी भी समाज को बदलने की ताकत रखती है। हमें उस ताकत का सही दिशा में, सही उपयोग करने की ज़रूरत है।

इस बात की सिफ़ारिश 1975 से की जाती रही है कि विद्यालयी-पाठ्यक्रम का केंद्र चरित्र-निर्माण होना चाहिए। इसका सर्वश्रेष्ठ तरीका बच्चे को आत्मनिर्माण का सही पाठ खोजने में सहायता देना तथा बिना हस्तक्षेप किए उसकी गतिविधियों पर दृष्टि रखकर उस पर चलने के लिए उसे प्रेरित करना, आवश्यकता पड़ने पर उचित सलाह देना है। आत्मनिर्माण मानव के लिए अत्यंत आवश्यक है... चरित्र-निर्माण की इस प्रक्रिया के साथ करुणा, सहनशीलता, साहस, निर्णय क्षमता और सर्व-मंगल आदि गुणों का विकास भी जुड़ा हुआ है। (दसवर्षीय स्कूली पाठ्यक्रम की रूपरेखा—1975, 2.9.1 और 2.9.2:5), लेकिन यह तय करने के बाद से, हमने 1975 के बाद जो शिक्षा दी, वह बच्चों में किसी भी तरह की क्षमता का संवर्धन करने में खरी नहीं उतर पाई। इसका मुख्य कारण मुझे यही नज़र आता है कि केवल साध्य अच्छा होने से कुछ हासिल नहीं होता, साधन भी अच्छा होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अगर हमने चरित्र-निर्माण को प्रमुखता दी तो उसके लिए साधन भी जुटाने चाहिए थे। कुछ ऐसा करना चाहिए था जिससे उस लक्ष्य को हासिल किया जा सके। साधनों में केवल भौतिक साधन ही नहीं आते, बल्कि हमारी पूरी क्रिया प्रणाली भी इसका प्रमुख हिस्सा है। हमारी रणनीति में कमी रह गई जिससे आज भी यह लगता है कि काश! शिक्षा का स्वरूप अच्छा होता। इससे मुझे यह बात भी समझ आती है कि जिसके चरित्र का निर्माण किया जाना है और जो चरित्र का निर्माण करने में मदद करेगा, उनके बीच आत्मीय संबंध होना ज़रूरी है। साथ ही स्वयं शिक्षक का चरित्र बहुत दृढ़ होना चाहिए। 'चरित्र-निर्माण' कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे 'पढ़ा दिया जाए', 'जिसकी कोई किताब बना दी जाए', 'जिसका कोई कालांश हो'। वह तो व्यवहार की और आदर्श/मॉडल प्रस्तुत करने की चीज़ है। 'चरित्र-निर्माण' महज़ शब्दों का आडंबर बनकर, एक ढाँचा बनकर रह गया है जिसमें 'सत्व'/'तत्व'

है ही नहीं। दरअसल आज जो भी समाज हम देखते हैं, वह 'उस ज़माने' का ही प्रतिफल है। अगर सच में उस पाठ्यक्रम में आत्मा होती तो आज के मानव में वह स्पंदन और संस्कार, दोनों होते।

पूरी चर्चा के आधार पर यही कहा जा सकता है कि भारतीय शिक्षा में 'भारतीयता' का पुट होना ज़रूरी है। इसके लिए पहले 'भारत' को समझना ज़रूरी है। हम न केवल विद्यालयी शिक्षा में विदेशी तर्ज़ पर शैक्षिक सिद्धांतो को लागू कर रहे हैं, बल्कि शिक्षक शिक्षा में भी यानी शिक्षकों की शिक्षा में भी उन्हें आयातित कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय बच्चे को, उसके व्यक्तित्व को समझने के लिए हमने फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का सहारा लिया जबकि 'अष्टांग हृदय' नामक भारतीय ग्रंथ, भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय बच्चे को समझने में मदद करता है। वह मनोविकारों को भी समझने में मदद करता है। इतना ही नहीं, *तैत्तिरीयउपनिषद्* में अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष के माध्यम से शिक्षा के उद्देश्य और उसकी प्राप्ति की ओर संकेत किया गया है। *कठोपनिषद* में 'श्रेयस और प्रेयस' की चर्चा करते हुए जीवन का और जीवन के माध्यम से शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया गया है — श्रेयस और प्रेयस दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से मनुष्य को बाँधते हैं। इन दोनों में से श्रेयस को ही स्वीकार करना चाहिए। श्रेयस और प्रेयस दोनों ही मनुष्य की ओर अग्रसर होते हैं। बुद्धिमान दोनों के बारे में विचार करके श्रेयस का ही चयन करते हैं जबकि मूर्ख व्यक्ति सांसारिक आनंद के लिए प्रेयस का चयन करते हैं। यह उद्धरण जीवन के अंतिम लक्ष्य की ओर संकेत करता है कि जो 'सही है, उत्तम है, वही स्वीकार्य होना चाहिए, आनंद के पीछे भागने से जीवन का सार हासिल नहीं होता, केवल भटकाव ही होता है...।' जो जीवन का सत्य है वही शिक्षा का भी सत्य है, क्योंकि शिक्षा जीवन के साथ ही जुड़ी हुई है, क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य ही है जीवन को सार्थक और बेहतर तरीके से जीना।

जब मैं जीवन के संदर्भ में 'श्रेयस' की बात कर रहा हूँ तो साथ ही राष्ट्र के जीवन की भी बात कर रहा हूँ। जो जीवन के लिए श्रेयस्कर है, वही राष्ट्र के लिए भी श्रेयस्कर है, तो अब हमें ही सोचना होगा कि जीवन और शिक्षा का उद्देश्य कैसे अलग हो सकता है? और इन दोनों से अलग राष्ट्र का उद्देश्य कैसे अलग हो सकता है? राष्ट्र के निर्माण में ऐसे नागरिकों का योगदान होता है जिनका व्यक्तित्व संतुलित और सुदृढ़ हो, जिनका व्यक्तित्व प्रखर और ठोस हो तथा जिनका व्यक्तित्व अपनी आभा से दूसरों को प्रभावित करता है, दूसरों को बदलने का सामर्थ्य रखता है। प्रयास यह होना चाहिए कि शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो जो बच्चे को एक शिक्षार्थी होने का 'आई-कार्ड' न देकर एक अच्छा मानव, नागरिक होने की योग्यता दे।

किसी भी राष्ट्र-निर्माण के लिए उसकी शिक्षा व्यवस्था का सुनियोजित होना बहुत ज़रूरी है। राष्ट्र-निर्माण का रास्ता भी (जीवन-निर्माण का तो है ही) शिक्षा से होकर गुज़रता है। हम जिस तरह का समाज, राष्ट्र बनाना चाहते हैं, उसी तरह की शिक्षा देनी शुरू करनी होनी। आप अनुभूत कर सकेंगे कि हमारा समाज, हमारा राष्ट्र भी उसी तरह का बन रहा है लेकिन 'बनना' बहुत ही धीरे-धीरे होता

है। परिवर्तन में समय तो लगता ही है। सब कुछ योजनाबद्ध तरीके से होता है। अगर शिक्षा राष्ट्र के निर्माण का साधन है तो यही शिक्षा किसी राष्ट्र के विनाश का भी कारण हो सकती है और होती ही है। इसलिए राष्ट्र को मज़बूत करने का एक ही तरीका कारगर है और वह है शिक्षा को मज़बूत बनाना। किसी भी राष्ट्र का निर्माण केवल शिक्षा से ही संभव है... जितनी जल्दी हो, इस बात को नीति-निर्माता भी समझ लें और 'राज' के 'नेता' भी...आखिर उन्हें 'राज' भी तो इसी राष्ट्र पर ही करना है, इस राष्ट्र के लोगों पर करना है। अगर किसी भी 'राज' में शिक्षा बेहतर होगी तो 'राज' करने में अड़चनें, दुविधाएँ भी कम ही आएँगी। सही और गलत में अंतर करने की योग्यता या सही का साथ देना, गलत का विरोध करना—ये सभी एक स्वस्थ समाज के लिए ज़रूरी हैं ही, तो शिक्षा में इससे परहेज़ क्यों? ज़रूरत इस बात की है कि हम सबसे पहले उस समाज को देखें, समझें, जानें जिस समाज में शिक्षा का उपयोग किया जाना है। इसके बाद ही गहन विचार-विमर्श के उपरांत 'शिक्षा का चरित्र' तय किया जाना चाहिए। शिक्षा के चरित्र के अनुरूप उस शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के तरीके निर्धारित किए जाने चाहिए। यह सब करने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति का होना अनिवार्य शर्त है। अंततः 'शिक्षा' हम सभी का सरोकार है और इसके लिए हमें कटिबद्ध होना होगा।

संदर्भ

आप्टे, वामन शिवराम. 1997. *संस्कृत हिंदी कोश*. न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, न्यू चंद्रावल, दिल्ली.

ओड, लक्ष्मीलाल के. 2011. *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि*. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.

मानव संसाधन विकास मंत्रालय. 1986. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986*. मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नयी दिल्ली.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्. 1975. *दसवर्षीय स्कूली पाठ्यक्रम की रूपरेखा — 1975*. रा.शै.अ.प्र.प., नयी दिल्ली.

———. 2006. *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005*. रा.शै.अ.प्र.प., नयी दिल्ली.